सामयिक प्रकाशन

समाज और इतिहास

नवीन शृंखला

7

गांधी : ऐतिहासिक पुनर्व्याख्या की ओर

सुधीर चन्द्र

नेहरु स्मारक संग्रहालय एवं पुस्तकालय
2014

NMML Occasional Paper

नेहरु स्मारक संग्रहालय एवं पुस्तकालय

© सुधीर चन्द्र, 2014
सर्वाधिकार सुरक्षित। लेखक की लिखित अनुमति के बिना इस प्रकाशन के किसी भी अंश का दोबारा प्रयोग, पुनरोत्पादन किसी भी रुप में नहीं किया जा सकता। इसमें व्यक्त विचार, अर्थनिर्धारण तथा निष्कर्ष पूर्णतः लेखक के हैं और किसी भी तरह, पूर्णरुपेण अथवा अंशतः, नेहरु स्मारक संग्रहालय एवं पुस्तकालय के विचारों को नहीं दर्शाते।

प्रकाशक

नेहरु स्मारक संग्रहालय एवं पुस्तकालय
तीन मूर्ति भवन
नई दिल्ली–110011
ई.मेल : ddnehrumemorial@gmail.com

आईएसबीएन : 978-93-83650-22-4

मूल्य रुपये 100/- ; यूएस $ 10

पृष्ठ सज्जा और मुद्रण : ए.डी. प्रिंट स्टूडिओ, 1749 बी/6, गोविन्द पुरी, एक्सटेंशन कालकाजी, नई दिल्ली–110019. ई.मेल : studio.adprint@gmail.com

गांधी : ऐतिहासिक पुनर्व्याख्या की ओर*

सुधीर चन्द्र**

दो बातें शुरू में ही। एक यह कि यहां गांधी से संबंधित जितनी जानकारी आयेगी उस में नया कुछ भी नहीं होगा। सारे तथ्य ऐसे होंगे जो गांधी के बारे में सामान्य जानकारी रखने वालों को कमोबेश मालूम होंगे। पर इन तथ्यों के सहारे जो कहानी बनेगी, गांधी की और अपने वक्त के भारतीय इतिहास की, वह सामान्य से अलग जाती दिखेगी। दूसरे, सारी चर्चा भले ही गांधी के अपने जीवित रहने के वक्त की – उनके आखिरी दिनों की – हो, इसके केन्द्र में दरअसल हमारा आज और हम खुद हैं। गांधी के जरिए अपने को देखना मकसद है इस का। वह 'अपना' जो नितांत निजी 'मैं' बनाता है, और वह भी जिस से अंततोगत्वा सारी इन्सानियत को एक करता कोई 'हम' बनता है।

अभी भी वे पीढ़ियां बची हैं जिन की गांधी से संबंधित यादें उनकी चेतन यादों से भी पीछे जाती हैं। मैं उन्ही में से एक पीढ़ी का हूं। गांधी की मेरी पहली चेतन याद इस तरह है। मैं मैनपुरी के अपने घर में था कि शाम को अचानक आंगन में कोई दौड़ता हुआ घुसा और उसने कहा कि गांधीजी मार दिये गये। तकरीबन सात साल का था मैं उस वक्त। मुझे याद नहीं कि उस से पहले मैंने गांधी का नाम सुना था। कोई कारण नहीं कि न सुना हो, पर याद कतई नहीं। बहरहाल, खबर सुनते ही मैं रोने लगा। उस दिन हमारे घर में, ढेर सारे घरों की तरह, खाना नहीं बना। रात में सर तक लिहाफ ओढ़ मैं सिसकता रहा। याद नहीं कितनी देर तक। बहुत बाद में मैंने पढ़ा वैरियर ऍल्विन का, अपनी आत्म–कथा में शायद, कहना कि उनकी मां

* 7 जनवरी, 2013 को नेहरु स्मारक संग्रहालय एवं पुस्तकालय, नई दिल्ली में दिए गए व्याख्यान का संशोधित संस्करण।

** सुधीर चन्द्र, नाँत (फ्रांस) के उच्च अध्ययन संस्थान के असोशिएट फेलो हैं।

को जब गांधी की हत्या की खबर मिली–दोपहर के भोजन का समय था इंग्लैंड में उस वक्त–तो वह खाना न खा सकीं।

बाद में जब कॉलेज में दाखिल हुआ तो एक अजीब–सी विरक्ति, शायद विरक्ति से ज्यादा तीखा कोई भाव, मन में आने लगा गांधी के प्रति। क्यों आया, मैं ठीक से समझ नहीं पाया हूं। इतना जरूर कह सकता हूं कि यह तीखापन गांधी को, या उनके बारे में, पढ़ने और पहले की निस्बत उनको बेहतर तरीके से समझ पाने की वजह से नहीं था। फिर जब मैं इतिहास का शोधार्थी हुआ और आगे पढ़ना शुरू किया तो धीरे–धीरे खिंचने लगा गांधी की ओर।

आज मेरी स्थिति यह है कि इस विश्वास के बावजूद कि ज्ञान में संदेह की बड़ी महत्वपूर्ण भूमिका होती है, कि हर खोज की शुरूआत संदेह से करना ही बेहतर होता है, गांधी के साथ मेरा श्रद्धा का नाता बन गया है। इस श्रद्धा के बाद, आगे पढ़ने–सोचने के फलस्वरूप, गांधी के किसी पक्ष को लेकर संदेह पैदा हो जाए, वह अलग बात है। निहायत ज़रूरी भी है संदेह की संभावना का बने रहना। नहीं तो गांधी के प्रति श्रद्धा न सिर्फ अंधश्रद्धा बन जायेगी, बल्कि गांधी की सत्य के प्रति जो सर्वोच्च निष्ठा थी, वह धरी की धरी रह जायेगी।

बहुत पहले पढ़ा था एक विदेशी महिला पत्रकार द्वारा वर्णित यह किस्सा। पर जब से पढ़ा है, गांधी को समझने के निरंतर प्रयास में मूल मंत्र की तरह रहा है यह मेरे साथ। आप के साथ भी बांटना चाहता हूं इसे, आगे और कुछ कहने से पहले। यह महिला सेवाग्राम में ठहरी हुई थीं, गांधी के आश्रम में। उस दिन शाम का वक्त था। अंधेरा छाने लगा था। वह कहीं से लौटकर अपने कमरे में जा रही थीं। उनको लगा कि देर हो गयी है सो क्यों न गांधी की कुटिया से शॉर्ट–कट ले लें। (गांधी की कुटिया जो सदा खुली रहती थी और जिसमें एक तरफ से घुसकर आप दूसरी तरफ निकल जा सकते थे।) इतनी देर भी नहीं हुई थी कि गांधी सो चुके हों। महिला कुटिया में घुस लीं। पैर अंदर रखा ही था कि लगा गांधी सो गये हैं। आहट सुन कहीं वह जग न जांय, इसलिए महिला दबे पांव पंजों के बल चलने लगीं–अंग्रेजी में जिसे 'टिप–टोइंग' कहते है। गांधी सोए नहीं

थे। पूछ बैठे महिला से कि क्या माजरा है। बेचारी सकपकाकर बताने लगी कि क्या हुआ था। उसकी बात सुन गांधी तपाक से बोले कि अभी जो किया सो ठीक है, पर ध्यान रखना कि 'यू नैवर टिपटो टू माइ मैमोरी।'

गांधी नहीं चाहते कि हम अपना दिमाग और अपना ज़मीर उनके हवाले कर दें।

गांधी को लेकर हमने बड़ी सुखद भ्रांतियां पाली हुई हैं। इन भ्रांतियों से अपनी नैतिक श्रेष्ठता, सकल संसार में अपनी विशिष्टता का भ्रम बनाये रखने में बड़ी सहायता मिलती है। मसलन, एक सुखद भ्रांति यह है कि महा–शक्तिशाली बर्तानवी साम्राज्यवाद को परास्त कर देने वाला हमारा स्वाधीनता आंदोलन मानव इतिहास में अभूतपूर्व था। व्यापक स्तर पर अहिंसा की व्यावहारिकता का सफल परीक्षण कर दुनिया को एक नयी राह दिखाने वाला आंदोलन।

गांधी की मानें तो ऐसा नहीं हुआ। गौर से देखें तो सामूहिक आत्म–मुग्धता के अलावा और कोई कारण नहीं है गांधी से असहमत होने का। क्या आधार था गांधी के इस विश्वास का कि जिस आंदोलन की उन्होंने अगुवाई की, जिसे दुनिया ने सत्याग्रह के नाम से जाना, वह अहिंसक नहीं था? जब 1946–47 में गांधी ने देखा कि बत्तीस साल के अहिंसक समझे जाने वाले आंदोलन के बाद देश में ऐसी हिंसा फूट पड़ी कि लोग एक–दूसरे को मारने पर आमादा हो गए तो उनके मन में सवाल उठा कि यह हिंसा निकली कहां से। संभव हो कैसे सकती थी यह हिंसा अगर लोगों ने इतने लंबे अरसे तक अहिंसा का पालन किया था? बड़ा सोच–विचार किया गांधी ने इस सवाल पर। अंत में वह इस नतीजे पर आये कि उनका आंदोलन अहिंसक था ही नहीं।

आसान नहीं रहा होगा गांधी के लिये यह मानना कि सत्याग्रह जैसा महान और सारे जगत के लिए कल्याणकारी परीक्षण वास्तव में हुआ ही नहीं था। कि सत्याग्रह के नाम में जो हो रहा था वह कुछ और ही था। बहुत देर से आयी गांधी की समझ में यह बात, पर

जब आयी तो बहुत साफ तरीके से। बगैर संदेह की गुंजाइश के। और उतनी ही सफाई से उन्होंने लोगों के सामने बार–बार इसे रखा। आप स्वयं गांधी के तर्क को सुनें और फैसला करें। आज़ादी से ठीक दो महीने पहले, 16 जून की शाम को, उन्होंने कहा :

> एक दिन था जब गांधी को सब मानते थे, क्योंकि गांधी ने अंग्रेजों के साथ लड़ने का रास्ता बताया था। और वे अंग्रेज भी कितने, केवल पौन लाख। पर उनके पास इतना सामान था, इतनी ताकत थी कि बकौल एनी बेसेंट रोड़े का जवाब गोली से दिया जाता था। तब अहिंसा से काम बनता दिखता था, इसलिए उस समय गांधी की पूछ थी। पर आज लोग कहते हैं कि गांधी हमें रास्ता नहीं बता सकता है, इस वास्ते स्वरक्षा के लिए हमें शस्त्र हाथ में लेने चाहिए। ...उस समय हमको किसी ने ऍटम बम बनाना नहीं बताया था। अगर हम वह विद्या जानते होते तो उसी से अंग्रेज को खत्म करने की सोचते, पर दूसरा कोई चारा नहीं था, इसलिए तब मेरी बात मानी गई और मेरा सिक्का जमा।

तब अहिंसा से काम बनता दीखता था, और ऍटम बम की विद्या आती नहीं थी, सो जम गया सिक्का गांधी का। मतलब कि गांधी – या अहिंसा – मजबूरी का नाम था, सिद्धांत का नहीं। सुनिये गांधी की व्याख्या :

> हमारी अहिंसा दुर्बलों की थी। मगर सच्चाई तो यह है कि दुर्बलों के साथ अहिंसा का कभी मेल बैठता ही नहीं। अतः उसे अहिंसा के बजाय निष्क्रिय प्रतिरोध (पैसिव रैज़िस्टेंस) कहना चाहिए। मगर मैंने जो अहिंसा चलाई थी वह दुर्बलों की नहीं थी, जबकि निष्क्रिय प्रतिरोध दुर्बलों का होता है। ...इसके आलावा निष्क्रिय प्रतिरोध सक्रिय और सशस्त्र प्रतिरोध की तैयारी होती है। नतीजा यह हुआ कि लोगों के दिलों में जो हिंसा भरी थी, वह एकाएक बाहर निकल पड़ी।

अक्सर ऐसा होता है कि किसी कार्य या प्रक्रिया की प्रकृति की सही समझ उसके परिणामों को देखकर ही हो पाती है। यही कारण था कि बत्तीस साल तक गांधी अपने आंदोलन की प्रकृति के बारे में धोखे में रहे। पर जब 1946–47 की हिंसा से सामना हुआ तो एक नया विचार मंथन शुरू हुआ, और गांधी बीते बत्तीस सालों को दूसरी ही तरह देख सके। वैसे इस संदर्भ में यह जानना भी दिलचस्प होगा कि खुद गांधी ने बत्तीस साल तक असलियत से अनजान बने रहने का रहस्य किस तरह से देखा। उनका मानना था कि ईश्वर को जब किसी व्यक्ति से कोई काम कराना होता है तो उस व्यक्ति की आंखों पर पट्टी बांध देता है। यही उनके साथ हुआ था। 'परंतु', उन्होंने कहा, 'अब बत्तीस वर्ष के बाद मेरी आंखे खुली हैं'।

हो सकता है गांधी का आस्तिक तर्क हम में से बहुतों को नामंजूर हो। लेकिन भारतीय स्वाधीनता आंदोलन की बुनियादी प्रकृति और प्रवृत्ति के उनके विवेचन का जो ठोस सामाजिक–मनोवैज्ञानिक तर्क है उसको नकारना नामुमकिन है।

बड़ा दुःखद था गांधी के लिये वह मोहभंग। पर अहिंसा में उन का विश्वास नहीं डिगा। 'दिवालिया' वह हुए थे, अहिंसा का सिद्धांत नहीं। इतिहास के जुए में एक भारी दांव लगाया था उन्होंने और हार गये थे। पर जुए से उठना उन्हें गवारा नहीं था, और दांव भी बार–बार वही एक लगाना था। ईश्वर भरोसे खेलते हुए। धर्म जो लगा था दांव पर। बात बिलकुल सीधी थी :

> अहिंसा मेरा धर्म है, कांग्रेस का धर्म कभी नहीं रहा। कांग्रेस ने तो उसे केवल नीति के रूप में स्वीकार किया था। नीति उसी वक्त तक धर्म रह सकती है जब तक उसे चलाया जाए। उसके बाद नहीं। कांग्रेस को पूरा अधिकार है कि जिस वक्त जरूरत न रहे उसी वक्त नीति बदल ले। धर्म की बात और होती है। वह तो अमर है। वह कभी बदल नहीं सकता।

उतनी ही सीधी एक और बात भी थी जो देश के सार्वजनिक मामलों

में गांधी के दखल को पहले से ज्यादा मुश्किल बना रही थी। अब जब कि रोड़े का जवाब गोली से मिलने का डर खत्म हो गया था, और जो भी झगड़ा होना था आपस में ही, लगभग बराबर की शक्ति वालों में, होना था, गांधी का सिक्का खोटा लगने लगा। वही शख्स जो बड़ी नैतिक पूंजी था लोगों के लिये, उन्हें बोझ लगने लगा, ऐसा बोझ जिसे वे फेंक सकते नहीं थे और ढोने को तैयार नहीं थे। एक अजीब अनख, एक परेशानी, एक दबा–सा गुस्सा उभरने लगा था कि क्या करें इस शख्स का। गांधी देख–समझ रहे थे यह बदलाव। आजाद भारत में उनके जीते जी जो इकलौती सालगिरह उन की आयी, उस दिन का उनका कहा सब कुछ कह देता है। उन्होंने कहा :

> आज तो मेरी जन्मतिथि है। ...मेरे लिए तो आज मातम मनाने का दिन है। मैं आज तक जिन्दा पड़ा हूं। इस पर मुझको खुद आश्चर्य होता है, शर्म लगती है, मैं वही शख्स हूं कि जिसकी जबान से एक चीज निकलती थी कि ऐसा करो तो करोड़ों उसको मानते थे। पर आज तो मेरी कोई सुनता ही नहीं है। मैं कहूं कि तुम ऐसा करो, 'नहीं, ऐसा नहीं करेंगे' ऐसा कहते हैं। ...ऐसी हालत में हिन्दुस्तान में मेरे लिए जगह कहां है और मैं उसमें जिन्दा रह कर क्या करूंगा? आज मेरे से 125 वर्ष की बात छूट गई है। 100 वर्ष की भी छूट गई है और 90 वर्ष की भी। आज मैं 79 वर्ष में तो पहुंच जाता हूं, लेकिन वह भी मुझको चुभता है।

गांधी को शर्म आने लगी ज़िन्दा बने रहने पर। आज़ाद भारत में। इतनी कि ईश्वर से प्रार्थना करने लगे कि उन को उठा ले ऊपर। एक दिन अपनी प्रार्थना–सभा में आये लोगों से विनती करने लगे कि वे भी प्रार्थना करें गांधी के जल्दी ऊपर उठा लिये जाने की।

साल दर साल तब से हर दो अक्टूबर के दिन गांधी को रस्मन याद किया जाता है। इस बीच अनगिनत किताबें भी आती रहीं हैं गांधी पर और भारतीय स्वाधीनता आंदोलन पर। लेकिन दो अक्टूबर 1947 के गांधी की छवि न लोक स्मृति में है और न ही अकादमिक लेखन उसको महत्व देता लगता है।

बात जानने की नहीं है। सिर्फ साढ़े छः दशक पहले का तथ्य है यह। बात है याद रखने और भुलाने की। निजी चेतना हो या सामूहिक, हमारी बनावट ही ऐसी हो गयी है कि, सामान्यतः, अपने से जुड़े असह्य निंदनीय को अनजाने ही भुला देते हैं हम। और उसकी जगह कुछ ऐसा अच्छा याद रख लेते हैं कि जो निंदनीय हुआ था वह तिरोहित ही हो जाए। याद रखना कि अपने ही देश में, आज़ादी के बाद, जिंदा पड़े रहने से गांधी को शर्म आने लगी थी, ज़रुरी कर देगा जानना कि क्या हो रहा था देश में कि गांधी इस शर्म से निजात पाने की प्रार्थना करने लगे। फिर वही जानना मजबूर कर देगा यह जानना भी कि तब जो हुआ सो हुआ, अब क्या हो रहा है देश में कि जीते रह गये होते गांधी 125 वर्ष, तो कैसा महसूस करते? कहीं अच्छा है याद रखना, न भूलना कि गांधी का जाना हमारे जीवन से प्रकाश का चला जाना था।

हम क्या याद रखते हैं और क्या भूलते हैं तय करता है कि हम अपना इतिहास कैसे देखते–समझते है। आज़ाद भारत में अपनी इकलौती वर्षगांठ के दिन गांधी ने क्या कहा या किया, यह जानने के लिये थोड़ी पढ़ाई करनी पड़ सकती है। हालांकि अगर इसे भुला न दिया गया होता तो यह भी लोक स्मृति का हिस्सा होता, वैसे ही जैसे गांधी से संबंधित और निरे तथ्य हैं। भूलने की इस प्रक्रिया को नाटकीय और मारक तरीके से समझाने वाले सिर्फ एक तथ्य के साथ में इस प्रसंग को पूरा करना चाहूंगा। एक ऐसा तथ्य जिसके लिये किसी शोध की दरकार नहीं है। याद रखने और भूलने के भी परे है वह। जरुरत है सिर्फ ध्यान देने की। दक्षिण अफ्रीका से लौटने के बाद गांधी बत्तीस साल–साढ़े इकत्तीस मान लीजिये–लड़े अंग्रेजों के खिलाफ। जेल गये, लेकिन सुरक्षित रहे। अपने आजाद देश में सिर्फ साढ़े पांच महीने जिंदा रह पाये वह। कुल जमा 169 दिन झेल पाया उनको यह देश। है यह बोध हमें? इस तथ्य के अर्थ पर कोई मंथन–मनन होता है हमारे अंदर? क्या कोई कारण बनता है इसमें विचलित होने का अपनी सामूहिक अस्मिता को लेकर?

क्यों हो गये थे गांधी इतने व्यग्र? एक कारण तो अहिंसा संबंधी मोहभंग था। लेकिन इससे पहले ही, 1945 के अंत में, उनको

एक बड़ा सदमा पहुंच चुका था। मैं विस्तार से इस प्रसंग की चर्चा अन्यत्र कर चुका हूं। यहां मुख्तसर ही जिक्र करूंगा उसका। 2009 में जब जोर–शोर से *हिंद स्वराज* की शताब्दी मनाई गयी तब से गांधी के इस बीज–पाठ की भनक काफी लोगों तक पहुंचती रही है। बीसवीं शताब्दी के अंतिम सालों से विश्व के स्तर पर कुछ ऐसे खतरनाक बदलाव आते रहे हैं कि आधुनिकता में जो अटल–सा विश्वास था वह डिगने लगा है। परिणामस्वरूप आज विकल्प की बात पहले से कहीं ज्यादा जरूरी लगने लगी है। सो गांधी का *हिंद स्वराज* जैसा क्रांतिकारी विकल्प वैसा दकियानूसी और हास्यास्पद नहीं लगता जैसा कि उनके जीते जी और स्वतंत्र भारत के शुरूआती दशकों में लगता था।

बहरहाल, जब यह निश्चित हो गया, द्वितीय महायुद्ध के समाप्त होने पर, कि भारत स्वाधीन होने वाला है तो गांधी ने सोचा कि वह सही घड़ी है आजाद भारत के भविष्य की रूपरेखा निर्धारित करने की। चूंकि उनका दृढ़ विश्वास था कि भारत को, और बाद में भारत से प्रेरित होकर पूरी दुनिया को, *हिंद स्वराज* वाली राह लेनी चाहिये, उन्होंने 5 अक्टूबर 1945 को अपने राजनैतिक वारिस और देश के भावी प्रधानमंत्री जवाहरलाल नेहरु को इस संबंध में एक लंबी चिट्ठी हिंदुस्तानी में लिखी। 'चिरंजीव जवाहरलाल' को लिखी इस चिट्ठी में उन्होंने शुरु में ही कहा: 'मैंने कहा है कि ''हिंद स्वराज'' में मैंने लिखा है उस राज्य पद्धति पर मैं बिलकुल कायम हूं।' आगे इसका अर्थ विस्तार करते हुए उन्होंने लिखा: 'मैं यह मानता हूं कि अगर हिंदुस्तान को सच्ची आजादी पानी है और हिंदुस्तान के मार्फत दुनिया को भी, तब आज नहीं तो कल देहातों में ही रहना होगा – झोपड़ियों में, महलों में नहीं। .... सिवाय इस जोड़ी के (यानी सत्य और अहिंसा) मनुष्य जाति का नाश ही है उसमें जरा–सा भी शक नहीं है। उस सत्य और अहिंसा का दर्शन हम देहातों की सादगी में ही कर सकते हैं।'

वारिस उनकी बात को सिरे से ही गलत न समझ बैठे, इसलिये गांधी ने बहुत साफ–साफ यह भी कह दिया: 'अगर ऐसा समझोगे कि मैं आज के देहातों की बात करता हूं तो मेरी बात नहीं समझोगे। मेरा देहात आज मेरी कल्पना में ही रहता है।... इस काल्पनिक देहात

में देहाती जड़ नहीं होगा–शुद्ध चैतन्य होगा। वह गंदगी में, अंधेरे में जानवर की तरह की जिन्दगी बसर नहीं करेगा। मर्द और औरत दोनों आजादी से रहेंगे और सारे जगत का मुकाबला करने को तैयार रहेंगे। वहां न हैजा होगा, न मरकी होगी, न चेचक होंगे।'

एक और बहुत ही महत्वपूर्ण बात गांधी ने इस चिट्ठी में कही। *हिंद स्वराज* में उन्होंने यह बात नहीं कही थी। इस चिट्ठी में कह रहे थे, और दावा कर रहे थे कि वह जो कह रहे हैं वही है जो 36 साल पहले *हिंद स्वराज* में कह चुके थे। मतलब यह कि 1909 का जो लिखित पाठ था, उस पाठ का असल अर्थ, उस का सत्य, पत्थर में खिंच गयी लकीर की तरह स्थिर नहीं था। उस पाठ को स्पंदित करती एक बुनियादी भावना थी, एक सिद्धांत था, जिसको समय–समय पर बदलते परिप्रेक्ष्य के मुताबिक व्याख्यायित करना और अमल में लाना था। जड़ नहीं, जीवंत पाठ था *हिंद स्वराज* गांधी के लिये। हमारे लिये भी होना चाहिए। ऐसी जीवंतता कि यह कहने के बाद कि 'मनुष्य जीवन के लिए जितनी जरूरत की चीज है उस पर निजी काबू होना चाहिए', गांधी कह सके: 'मैं ऐसी बहुत–सी चीज का ख्याल करा सकता हूं जो बड़े पैमाने पर बनेगी। शायद रेलवे भी होगी, डाकघर, तारघर भी होंगे। क्या होगा, क्या नहीं उसका मुझे नहीं पता। न मुझको उसकी फिकर है।' जो गांधी को पता था, और जिस की उन्हें फिकर थी, वह थी 'असली बात'। असली बात पर वह कायम रहना चाहते थे क्योंकि 'उसकी बात छोड़ दूँ तो सब छोड़ देता हूँ।'

तो क्या है हिंद स्वराज की 'असली बात'? 1909 के पाठ की शाब्दिक समझ कहेगी: वह जो इस चिट्ठी में देहात से शुरू कर के जरुरत की चीजों पर निजी काबू तक कह रहे हैं गांधी। ऐसी समझ *हिंद स्वराज* के लिखित पाठ में वह संभावना नहीं देख सकती जिस के आधार पर गांधी बड़े पैमाने पर उत्पादन का समर्थन कर पाते हैं। ऐसा होने पर इस समझ को गांधी के विचारों को *हिंद स्वराज* के साथ–साथ उन वक्तव्यों के संदर्भ में भी देखना होगा जो, इस समझ के हिसाब से, *हिंद स्वराज* से बिलकुल मेल नहीं खाते। जो भी हो, मानना पड़ेगा कि मसला पेचीदा है और इस को समझने के लिये अपने ही पहले के परिणामों या निर्णयों की गिरफ्त से बचना होगा।

नेहरु ऐसा न कर सके। बरसों पहले वह, पढ़ते ही, *हिंद स्वराज* को खारिज कर चुके थे, और इस को लेकर एक खीझ चली आ रही थी उनके मन में। सो गांधी के पत्र को पढ़ा तो उन्होंने, पर उस खीझ के प्रभाव में। वह तैयार बैठे थे इस मसले को तुरंत ही खत्म कर देने के लिए। कुछ ही दिन पहले कांग्रेस की वर्किंग कमेटी में ज़िक्र हुआ था इस मसले का और – जैसा कि गांधी ने नेहरु को याद दिलाया – 'ऐसा कुछ फैसला हुआ था कि इसी चीज को साफ करने के लिए वर्किंग कमेटी 2–3 दिन के लिए बैठेगी।' अब जब गांधी ने उससे पहले ही अपनी चिट्ठी में यह मसला उठा दिया, तो लगता है नेहरु नहीं चाहते थे कि यह और तूल पकड़े।

9 अक्टूबर को अपना जवाब अंग्रेजी में लिखते हुए नेहरु ने 'माई डियर बापू' को जो लिखा वह स्वतंत्र भारत के निर्माण के लिये निर्णायक साबित हुआ। सो उसकी विषय वस्तु का ऐतिहासिक महत्व है। पर मैं यहां गांधी के जिस त्रासद अंत को उजागर करना चाह रहा हूं, उसकी दृष्टि से नेहरु के पत्र के अंदाज का, उसकी ध्वनि का अलग महत्व है। आप सरसरी निगाह भी डालें इस पर तो पायेंगे कि नेहरु अपनी चिड़चिड़ाहट को रोकने की पूरी कोशिश कर रहे हैं, पर रोक नहीं पा रहे। बगैर गांधी से छिपाये कि *हिंद स्वराज* को गंभीरता से ले पाना उनके लिए मुमकिन नहीं है, नेहरु अचरज जताते हैं कि गांधी इस के आधार पर भारत को विकसित करने का प्रस्ताव रख रहे हैं। इतना ही नहीं, वह और दूसरे कांग्रेसी नेता तो मुद्दत से मान रहे थे कि खुद गांधी *हिंद स्वराज* को पीछे छोड़ चुके हैं। वैसे भी यह सही वक्त नहीं था इस मसले को उठाने का। इसके अलावा वह और गांधी कौन होते थे इस तरह का फैसला करने वाले? इस तरह के बड़े फैसले तो आज़ाद भारत के प्रतिनिधियों को करने होंगे।

गांधी के बुनियादी विचार–कि गांव आज़ाद भारत में व्यवस्था की बुनियादी इकाई बने–से असहमति जताते हुए नेहरु ने उलट वार किया: 'गांव आमतौर पर बौद्धिक और सांस्कृतिक रूप से पिछड़ा होता है और पिछड़े वातावरण में प्रगति नहीं हो सकती। संकीर्ण मानस वाले लोगों के झूठे और हिंसक होने की संभावना ज्यादा है।'

किसका जवाब दे रहे थे नेहरु? उस *हिंद स्वराज* का जिस की याद भले ही धुँधला गयी हो उनके दिमाग में, पर जिसके सिरे से नकारे जाने की जरूरत के बारे में वह पूरी तरह आश्वस्त थे? या उस चिट्ठी का जिसमें गांधी ने कोई गुंजाइश ही नहीं छोड़ी थी संदेह की कि वह देश के मौजूदा पिछड़े देहात की नहीं बल्कि अपनी कल्पना के देहात की बात कर रहे हैं?

गांधी ने अपनी चिट्ठी के अंत में यह भी लिखा था कि ज़रुरी हो तो उन्हे और नेहरु को इस मसले पर मिलकर बातचीत कर लेनी चाहिए। भले ही नेहरु ने साफ–साफ गांधी के प्रस्तावित विकल्प को ठुकरा दिया हो, या इसी के कारण–कि इससे होने वाला आघात कुछ कम हो जाए–वह मिलने की ज़रूरत को न नकार सके। पर मिलने को मुल्तवी ज़रूर कर दिया। कहा कि इतना व्यस्त है उनका ढेर सारा कार्यक्रम कि अभी तो बता भी नहीं सकते कि कब मिलना हो सकेगा।

33 दिन बाद हो सका मिलना। इसके विस्तार में नहीं जाऊँगा यहाँ। इतना भर कहना काफी है कि इस मुलाकात के दूसरे ही दिन गांधी ने एक पत्र लिखा नेहरु को। पिछले दिन हुई बातों में से कुछ बातों का ब्यौरा देते हुए। लिखा कि नेहरु की प्रतिक्रिया मिलने पर अगले पत्र में उस मुलाकात की बाकी बातों का ब्यौरा लिख भेजेंगे। इस तरह दोनों को तसल्ली हो जायगी कि एक ने दूसरे की बातों को सही ही समझा है, गलत नहीं। नेहरु ने ज़रुरी नहीं समझा अपनी प्रतिक्रिया भेजना। गांधी ने आगे और कुछ नहीं लिखा इस बाबत। न ही ज़ोर दिया कि वर्किंग कमेटी में बहस हो इस मसले पर।

वह समझ चुके थे कि आज़ाद भारत का जो उनका सपना था वह उन्ही के अपनों का सपना नहीं था। आज़ाद भारत अपना दूसरा सपना देख रहा था।

इस दूसरे सपने को लेकर एक बहुत ही अहम वक्तव्य नेहरु के गांधी को दिये गये जवाब में आता है जिस पर, गांधी द्वारा किये गये बड़े उद्योगों के आवश्यकतानुसार समर्थन की ही तरह, ध्यान नहीं दिया गया है। आज जब कि तथाकथित वैश्वीकरण और उदारीकरण का

बोलबाला है, और निजीकरण तेज़ी पकड़ रहा है देश में, गौर करें, मिश्रित अर्थव्यवस्था के सहारे देश के विकास का सपना संजोने वाले भावी प्रधानमंत्री ने अक्टूबर 1945 में गांधी को लिखा : 'अगर देश में दो प्रकार की अर्थव्यवस्थाएं रहीं तो या तो उनके बीच संघर्ष होगा या उनमें से एक दूसरे को खा जायेगी।'

इस तरह 1945 के अंत से ही शुरु हो गयी गांधी की व्यग्रता आज़ादी आते–आते बढ़ती ही चली गयी। 3 जून 1947 को, गांधी को बताये बगैर, कांग्रेस ने देश का विभाजन स्वीकर कर लिया। गांधी के लिये यह किस तरह का सदमा रहा होगा इसको समझने के वास्ते तो इतना भर याद कर लेना काफी है कि देश का बंटवारा अपनी लाश पर होने की घोषणा कर चुके थे वह। जीवन से ज्यादा मूल्यवान थी देश की एकता उनके लिये। पर देश की एकता की उनकी समझ अंधे आक्रामक राष्ट्रवाद की उस समझ से बहुत अलग थी जो येन केन प्रकारेण भौगोलिक सीमा को बनाये रखने के आगे और कुछ देख–सोच ही नहीं पाती। गांधी के लिये एकता का मतलब, और एकमात्र आधार, था दिलों की एकता।

वर्तमान भारत के सामान्य इतिहास लेखन और लोक स्मृति में एक तथ्य जड़ जमाके बैठ गया है। गांधी का साहसिक एलान कि देश का बंटवारा उनकी लाश पर होगा, और बंटवारा होने पर अपनी जिंदगी को दांव पर लगा कर उसका विरोध न करना। विचित्र विडंबना है कि अनगिनत लोग तब से अब तक गांधी को बंटवारे के लिये ज़िम्मेदार ठहराते हैं। वह सब भुलाकर जो गांधी ने उस वक्त कहा, बार–बार कहा, और किया। अगर उस कहे–करे पर थोड़ा भी ध्यान दें तो समझने में दिक्कत नहीं होगी कि बंटवारे को मानने के पीछे उनकी विलक्षण राजनैतिक और मनोवैज्ञानिक समझ थी। दरअसल बंटवारे को मानकर ही वह दिलों की एकता कायम कर सकने की संभावना देख रहे थे। बार–बार और तरह–तरह से जो अकाट्य तर्क उन्होंने दिये उसके कुछ उदाहरण दे रहा हूँ आपके विचारार्थ :

> आजकल तो मेरे पास बहुत ऐसे खत आते रहते हैं जिनमें मेरे ऊपर हमला होता है। एक मित्र लिखते हैं कि आप

जो कहा करते थे कि हिन्दुस्तान को काटना तो समझो मेरे शरीर को काटना है, तो आज आपकी यह बात कितनी कमजोर पड़ गई है, और मुझे इस बंटवारे का विरोध करने को कहते हैं। मैं तो इस में अपना कोई दोष नहीं देखता। जब मैंने कहा था कि हिन्दुस्तान के दो भाग नहीं करने चाहिए तो उस वक्त मुझे विश्वास था कि आम जनता की राय मेरे पक्ष में है; लेकिन जब आम राय मेरे साथ न हो तो क्या मुझे अपनी राय जबरदस्ती लोगों के गले मढ़नी चाहिए। ...जो मुझे पाकिस्तान का विरोध करने के लिए कहते हैं उनमें और मेरे में कोई समानता नहीं, सिवा इसके कि देश का बंटवारा हम दोनों को नापसंद है। मेरे और उनके विरोध में बुनियादी फरक है। प्रेम और वैर का मेल किस तरह से हो सकता है? ... अब मैं ऐसा मानता हूं कि हिन्दुस्तान के हिस्से हो गए हैं और सब कांग्रेस ने मजबूरी से कबूल किया है। लेकिन हिन्दुस्तान के टुकड़े हो जाने पर अगर हम खुश नहीं रह सकते हैं तो हम रंजीदा भी क्यों हों? हमें अपने दिल के टुकड़े नहीं होने देने चाहिए। ...वरना जिन्ना साहब की बात सही साबित हो जाएगी कि हम दो राष्ट्र हैं। हम सच्चे बनेंगे, ईश्वर के बंदे बनेंगे और जरूरत पड़ने पर मरेंगे भी। जब ऐसा करेंगे तब हिन्दुस्तान अलग और पाकिस्तान अलग, यह बात नहीं रह जाएगी और ये कृत्रिम हिस्से निकम्मे बन जाएंगे। अगर हम लड़ाई करेंगे तो हम पर दो राष्ट्र का इलजाम सच्चा साबित होगा। इसलिए आप और मैं ईश्वर से प्रार्थना करें कि हिन्दुस्तान और पाकिस्तान अलग तो हुए पर अब हमारे दिल अलग–अलग न हों।... हम चाहें तो हिन्दुस्तान और पाकिस्तान को या और जो कोई नाम धरो वह बिगाड़ भी सकते हैं और सुधार भी सकते हैं।... कांग्रेस का धर्म अब यह बन गया है कि पाकिस्तान का हिस्सा छोड़कर जो उसके हाथ में रह जाता है उसे वह अच्छे–से–अच्छा बनावे और पाकिस्तान वाले अपने हिस्से को कांग्रेस वालों से भी अच्छा बनावें। तो फिर दोनों मिल जाते हैं और हम सुख से रह सकते हैं।... लोग जोर–जोर से कहे ही जा रहे हैं कि हम मुसलमानों की खबर लेंगे।

> और इस तरह हम खुद पाकिस्तान को पक्का बनाने की पैरवी करते हैं।... हमारे आज के तरीकों का मतलब तो लश्कर बढ़ाना हो रहा है। दोनों ही लश्कर बढ़ाएंगे। अगर एक ओर बढ़ेगा तो दूसरी ओर भी बढ़ेगा। पाकिस्तान वाले कहेंगे कि हम हिन्दुस्तान वालों से बचने के लिए लश्कर बढ़ाते हैं, क्योंकि हम करोड़ों तो नहीं हैं। हिन्दुस्तान वाले भी इसी तरह की बातें कहेंगे। आखिर परिणाम लड़ाई आता है।... हम अपना पैसा तालीम में खर्च करेंगे, या दियासलाई में, बारूद में करोड़ों रूपए लगा देंगे? फिर तोपों में और फिर बंदूकों में खर्च करेंगे? और फिर अपने नौजवानों को तालीम भी वही देंगे?

दे रहे हैं वैसी ही तालीम। लड़ते रहे हैं लड़ाइयाँ। तोपों–बन्दूकों में सुरक्षा न पा, आणविक शस्त्रों की विनाशकारी शरण में पहुँच गये हैं, दोनों ही देश। डटे हुए हैं उसी तरीके पर जिसे त्यागे बगैर दोनों में से किसी की भी खैरियत नहीं।

समझ जाने के बाद कि 'बंटवारे से तो हम आज बच नहीं सकते चाहे वह हमें कितना ही नापसंद हो', गांधी जुट गये उस उद्देश्य को साधने में जिस के लिये बंटवारा किया जा रहा था। अगर सुख और शांति से साथ रहना मुमकिन नहीं, तो याद रखा जाय कि दोनों की सुख–शांति के लिए बंटवारा किया जा रहा है। ऐसा करने की सबसे बुनियादी शर्त थी दोनों देशों में सांप्रदायिक सौहार्द का बने रहना। और इसी का होना असंभव–सा लग रहा था। जुट गये गांधी इसी काम में। जानते हुए कि लोगों के दिल बदल गये थे, कोई सुन नहीं रहा था उनकी। जुट गये हताशा में भी। आशा बनाये रखी। वह करने लगे जो उनके अलावा न कोई सोच सकता था न कर सकता था।

आज़ादी आने के 15 दिन पहले ही राजधानी छोड़ चल दिये नोआखाली के लिये वहाँ सांप्रदायिक अमन कायम करने के इरादे से। नोआखाली जो पाकिस्तान का हिस्सा बनने वाला था 14 अगस्त को। गांधी का मानना था कि अगर नोआखाली को ठीक कर लिया उन्होंने तो सारा देश – हिन्दुस्तान भी और पाकिस्तान भी – ठीक हो जाएगा। 9 अगस्त की सुबह कलकत्ता पहुँच दो दिन बाद नोआखाली के लिये कूच करना

था उन्हें। पर कलकत्ता में ही रोक लिये गये। शहर में फैले ज़बरदस्त सांप्रदायिक तनाव पर काबू पाने के लिये।

गांधी का रुकना सार्थक हो गया। देखते–देखते शहर में शांति स्थापित हो गयी। जहाँ डर था कि 15 अगस्त को शहर के मुसलमान मातम का दिन मनाएँगे, और न जाने कौन–सी प्रतिक्रिया हिंदू करेंगे, वहीं दोनों संप्रदाय वालों ने जोश–ओ–खरोश से स्वतंत्रता दिवस एक जुट हो मनाया। अगले दिन गांधी ने *हरिजन* के लिए एक संपादकीय लिखा इस कायाकल्प पर। शीर्षक दिया 'मिरेकिल ऑर ऍक्सिडैंट' – 'चमत्कार या अकस्मात' (गुजराती में ऍक्सिडैंट को अकस्मात कहते हैं)। जाहिर है गांधी आनन–फानन में हो गये कायाकल्प को लेकर आश्वस्त नहीं थे।

अगले पूरे पखवाड़े शांति बहाल रही। गांधी ने सुहरावर्दी के साथ 2 सितम्बर को नोआखाली जाने का निश्चय कर लिया। तभी 1 सितम्बर की रात को उनके ही निवास पर हमला हो गया। दूसरे दिन पूरा शहर फिर सांप्रदायिक हिंसा की चपेट में था। सारे दिन गांधी सोचते रहे कि उन्हें क्या करना चाहिये। शाम के छः बजे तक कोई रास्ता नहीं सूझा। फिर अचानक फैसला हो गया। सवा आठ बजे से, उसी दिन, गांधी आमरण अनशन पर बैठ गये। घोषणा कर दी कि शहर में जब तक शांति स्थापित नहीं हो जाएगी वे अन्न ग्रहण नहीं करेंगे। थोड़ी ही देर में राजाजी, बंगाल के राज्यपाल जिन्हें गांधी अपनी आत्मा का रखवाला मानते थे, आने वाले थे। पर गांधी ने उनका भी इंतज़ार नहीं किया। कर दिया शुरु अनशन।

सिर्फ तीन दिन लगे शांति बहाल होने में। 73 घंटे बाद 78 वर्षीय गांधी ने अपना अनशन समाप्त कर दिया। इसी अनशन का प्रभाव देखकर तत्कालीन वायसरॉय माउंटबेटन ने कहा था कि गांधी के एक–सदस्यीय सीमा बल ने बंगाल में वह कर दिया जो 55,000 फौजी पंजाब में नहीं कर पा रहे थे।

बहुत कुछ लिखा गया है इस अनशन के बारे में। यहाँ मैं इसके एक दूसरे पक्ष की ओर ध्यान दिलाना चाहता हूँ। एक ऐसा पक्ष जिस का संबंध अहिंसा की प्रभावशीलता से है। जैसे ही कलकत्ता शांत हुआ,

अलग–अलग संप्रदायों और पार्टियों के प्रतिनिधियों ने आकर गांधी से कहा कि अब आप कृपा करके अपना अनशन खत्म कर दें। गांधी ने जवाब दिया कि इस मामले में उतावली नहीं करनी। अभी तो शहर शांत हो गया है पर इस का क्या भरोसा कि फिर – जैसा कि हाल में हो ही चुका था – हिंसा नहीं भड़क उठेगी। इसलिये अनशन तोड़ने से पहले वह दो वायदे चाहते थे उनसे जो शहर में शांति का हवाला देकर गांधी का अनशन तुड़वाने आये थे।

पहला, लोग वचन दें कि इसके बाद कलकत्ते में अशांति नहीं होगी। दूसरा, चूंकि लोग ईश्वर नहीं हैं जो भविष्य भी जान सकें, मुमकिन है कि इसके बावजूद शहर में अशांति फूट पड़े। इस संभावना को ध्यान में रखते हुए, गांधी ने कहा, लोग वचन दें कि ऐसा होने पर वे बाहर निकल पड़ेंगे और हिंसा के रुक जाने पर ही घर लौटेंगे, भले ही उनकी अपनी जान खतरे में पड़ जाय। जान जाने का खतरा कोई अमूर्त खतरा नहीं था। इन्ही तीन दिनों में दो तरुण अहिंसक स्वयंसेवी – सचिन मित्रा और स्मृतीश बनर्जी – मारे गये थे सांप्रदायिक हिंसा पर काबू पाने की कोशिश में।

गांधी का अनशन तुड़वाने आये लोगों को क्या मालूम था कि ऐसे भगीरथ व्रत की मांग कर दी जाएगी उनसे। आसान नहीं था 'हाँ' कर देना। सो पहला अत्यंत स्वाभाविक बचाव जो उन्हे सूझा वह था गांधी को याद दिलाना कि अनशन समाप्त करने की उन की सिर्फ एक शर्त थी, शहर में शांति। इस शर्त के पूरा होने के बाद कोई और शर्त नहीं रखी जा सकती थी। गांधी न माने। उन्होंने कहा कि आप लोग शर्त की भाषा पर जा रहे हैं, उसकी भावना को नहीं समझ रहे। बहरहाल, यह सोच कि शायद आपस में खुलकर बात करने से कुछ हल निकल आये, लोग बगल के एक कमरे में चले गये। कूटनीतिज्ञ राजाजी भी उनके साथ थे।

जहाँ तक मेरी जानकारी है, हम नहीं जानते कि उन लोगों ने क्या बातें कीं, कितनी असहमति उभर कर आयी, और किस तरह से अंतिम समाधान निकला। जान सकते तो लोगों के दिलों और दिमागों मे चल रही कशमकश का बेहतर अंदाज लग पाता। वैसे अगर अनुमान

को प्रमाण मानकर चलें तो कह सकते हैं कि अंदर की कशमकश कितनी भी शदीद क्यों न रही हो, जिस स्थिति में गांधी की ज़िद ने उन्हे डाल दिया था उसमें गांधी को वचन दे उनका अनशन खत्म करवाने के अलावा और कोई रास्ता था ही नहीं। सिवाय उन्हे मौत के सुपुर्द कर देने के। जो अकल्पनीय था। सो दे दिया वचन। टूट गया गांधी का अनशन।

और उसी वक्त गांधी ने एलान कर दिया कि अगले दिन वह पंजाब के लिये रवाना हो जाँयगे। वहाँ शांति बहाल करने के इरादे से। इतना सुनना था कि वही लोग जिन्होंने, गांधी से अलग जाकर आपस में सलाह मशविरा करके, ज़रा देर पहले ही वचन दिया था कि कलकत्ता में अशांति वापस नहीं आयेगी और आयी भी तो वे उससे निपट लेंगे, बुरी तरह घबरा गये। कहा उन्होंने कुछ हो, असल में वे डर रहे थे कि गड़बड़ हो सकती है फिर से। अतएव मिन्नत करके गांधी को दो दिन और कलकत्ता में रुके रहने के लिये राज़ी कर लिया।

गांधी का अनशन टूटने के तुरंत पहले और तुरंत बाद के ये दोनों तथ्य उनकी अहिंसा की सफलता या असफलता की नज़र से बहुत महत्वपूर्ण हैं। एक बात जो असंदिग्ध तरीके से मानी जा सकती है यह है कि गांधी ने अपना अनशन जिस मकसद से किया था – शहर में शांति – वह मकसद हासिल हो गया था। गांधी की जीत थी यह। पर यह जीत गांधी की अहिंसा की नहीं थी। यहाँ महत्वपूर्ण सिर्फ परिणाम नहीं है। प्रक्रिया भी उतनी ही, या ज्यादा, महत्वपूर्ण है। गांधी की अहिंसा का उद्देश्य है लोगों के दिल और दिमाग को बदलना, न कि उन्हे लाचार कर अपने मन की करवा लेना।

लाचारी भी ऐसी वैसी नहीं। लाचारी यह कि जल्दी ही कुछ न किया तो गांधी की मौत का पाप लगेगा। अब भले ही लोग अनखाने लगे हों गांधी से, हालत इतनी भी बुरी नहीं हुई थी कि उनकी मौत की तैयारी कर दें अपने हाथों। सो इतना तो उन्हें करना ही था – केवल इतना, इतने से ज्यादा कुछ भी नहीं – कि गांधी की मौत के पाप से बचे रहें। इसीलिये तीन दिन के अंदर–अंदर कलकत्ता शांत हो गया। पर जब गांधी ने वचन माँगा तो पहली प्रतिक्रिया हुई उससे

बच निकलने की। जब कोई रास्ता न मिला बचने का तो वचन भी दे दिया। किस मनःस्थिति में वचन दिया, और किस घबराहट में थे, ज़ाहिर है गांधी को ज्यादा न सही दो ही दिन के लिये शहर में रोक लेने के इसरार से।

ऐन यही सिलसिला आगे भी दिखाई देता है। 7 सितम्बर को कलकत्ता से चल 9 सितम्बर की सुबह दिल्ली पहुँचे गांधी। चले थे पंजाब के लिये, रुकना पड़ गया दिल्ली में ही। ज़बरदस्त हिंसा की गिरफ्त में थी राजधानी। लग गये गांधी लोगों को होश में लाने में। उस शहर में जहाँ ऐसा आक्रोश फैला था कि लोग गांधी को ही गालियाँ देने लगते। पीठ पीछे नहीं मुँह के सामने। उनको हिंदुओं और देश का दुश्मन कहते। गांधी ऐसे लोगों के बीच भी जाते। कहते कि आप क्यों समझ रहे हैं कि मैं आप का दर्द नहीं समझता। पर मैं क्या करूँ? मैं सबका दर्द समझता हूँ। मुसलमान का भी, सिख का भी, हिंदू का भी। कहते: 'मेरे पास सब एक हैं, मेरे पास ऐसा नहीं है कि यह गांधी हिंदू है इसलिए हिंदूओं को ही देखेगा, मुसलमानों को नहीं। मैं कहता हूं कि मैं हिंदू हूं और सच्चा हिंदू हूं और सनातनी हिंदू हूं। इसलिए मुसलमान भी हूं, पारसी भी हूं, क्रिस्टी भी हूं, यहूदी भी हूं। मेरे सामने तो सब एक वृक्ष की डालियां हैं। तो मैं किस डाली को पसंद करुं और मैं किसको छोड़ दूं? किसकी पत्तियां मैं ले लूं और किसकी पत्तियां मैं छोड़ दूं? सब एक हैं। ऐसा मैं बना हूं। इस का मैं क्या करुं? सब लोग अगर मेरे जैसा समझने लगें तो पूरी शांति हो जाए।'

इसी तरह यह भी: 'हम गुनहगार बन गए हैं, लेकिन कोई एक आदमी गुनहगार थोड़ा है।... हिंदू, सिख, मुसलमान तीनों गुनहगार थे [हैं]। अब तीनों गुनहगारों को दोस्त बनना है।... हम तो धर्म के नाम पर अधर्मी बन गए। अगर हम तीनों धर्म–पथ पर चलें तो किसी एक को डरने की आवश्यकता नहीं है।' चारों ओर फैल गये उस पागलपन के बीच हर दिन, बारंबार समझाते रहे गांधी: 'अगर इन्सान बेरहम बनकर अपने भाई पर जुल्म न करता तो ये हजारों मर्द, औरतें और मासूम बच्चे आज बेआसरा और उनमें से बहुत से भूखे न रहते।... क्या यह सब अनिवार्य है? मेरे भीतर से मजबूत आवाज आई – नहीं। क्या

यह महीने भर की आजादी का फल है?... क्या दिल्ली के नागरिक पागल हो गए हैं ? क्या उनमें जरा–सी भी इंसानियत बाकी नहीं रही है? क्या देश का प्रेम और उसकी आजादी उन्हे बिलकुल अपील नहीं करती? इसका पहला दोष हिंदुओं और सिखों को देने के लिए मुझे माफ कर दिया जाए। क्या वे नफरत की बाढ़ रोकने लायक इन्सान नहीं बन सकते? मैं दिल्ली के मुसलमानों से जोर देकर यह कहूंगा कि वे सारा डर छोड़ दें, भगवान पर भरोसा करें और अपने सारे हथियार सरकार को सौंप दें। क्योंकि हिंदुओं और सिखों को यह डर है कि मुसलमानों के पास हथियार हैं, इसका यह मतलब नहीं कि हिंदुओं और सिखों के पास कोई हथियार नहीं हैं। सवाल सिर्फ डिग्री का है। किसी के पास कम होंगे, किसी के पास ज्यादा।'

बहुत बातें कहीं गांधी ने। तरह–तरह से समझाया। सबको समझाया। सौ बात की एक बात, उन्होंने कहा कि जब सब जानवर बन गये हों – हिंदू भी, सिख भी, मुसलमान भी – तो 'एक जानवर न बने यही इसमें से निकलने का सीधा रास्ता है।'

सीधा रास्ता देख पाना ही तो समस्या थी। भूले–भटके दिख भी जाय तो सीधे रास्ते की व्यावहारिकता पर यकीन नहीं होता था। दूसरे का डर सीधे रास्ते पर चलने की पहल करने की हिम्मत ही पैदा नहीं होने देता था। गांधी यह भी जानते थे। कहते थे : 'एक ऐसा सिलसिला–सा बंध गया है कि जिससे हमारी आंख हमेशा टेढ़ा देखती है।' (मानव इतिहास को समझने का एक पैना सूत्र है यहाँ।)

'करो या मरो' जीवन–मंत्र था गांधी का। 9 सितम्बर को दिल्ली पहुंचने वाले दिन से ही शुरु हो, तीन महीने तक समझाते रहे लोगों को। आखिर में हार कर मरने का निश्चय कर लिया। 12 जनवरी की शाम को अपनी प्रार्थना सभा में उन्होंने अचानक घोषणा कर दी दूसरे दिन से आमरण अनशन पर बैठने की। प्रार्थना से थोड़ा पहले ही नेहरु और पटेल आये थे उनसे मिलने के लिये। उनको भी प्रार्थना सभा की सार्वजनिक घोषणा के बाद ही पता लगा गांधी के निर्णय का। निर्णय था :

> सेहत सुधारने के लिए लोग सेहत के क़ानूनों के मुताबिक उपवास करते हैं। जब कभी कुछ दोष हो जाता है और इन्सान अपनी गलती महसूस करता है तब प्रायश्चित के रूप में भी उपवास किया जाता है।... मगर ऐसा मौका भी आता है जब अहिंसा का पुजारी समाज के किसी अन्याय के सामने विरोध करने पर मज़बूर हो जाता है। वह ऐसा तब ही करता है जब अहिंसा के पुजारी की हैसियत से उसके सामने दूसरा कोई रास्ता खुला नहीं रह जाता। ऐसा मौका मेरे लिए आ गया है। उपवास का अरसा अनिश्चित है और जब मुझे यकीन हो जाएगा कि सब कौमों के दिल मिल गए हैं, और बाहर के दबाव के कारण नहीं, मगर अपना–अपना धर्म समझने के कारण, तब मेरा उपवास छूटेगा।

कलकत्ता में तीन दिन चला था, दिल्ली में पाँच दिन चला गांधी का अनशन। समाप्त लगभग उसी तरह हुआ जैसे कि कलकत्ता में। सिवाय इसके कि अनशन–समाप्ति के समय, कलकत्ता में हुई हुज्जत से बचने के इरादे से, दिल्ली में नेताओं ने डॉ. राजेन्द्र प्रसाद के घर में बैठकें करके एक ऐसे वक्तव्य पर अलग–अलग संस्थाओं और संप्रदायों के प्रतिनिधियों के दस्तखत करवा लिये थे जिस का हवाला देकर गांधी का अनशन समाप्त करवाया जा सके।

दिल्ली वाले अनशन को तोड़ते समय गांधी की मनःस्थिति का अनुमान इससे लग सकता है कि ईश्वर से ऊपर उठा लिये जाने की रात–दिन प्रार्थना करते–करते अचानक 125 सालों में आठ साल और जोड़ कहने लगे कि वह 133 तक जीते रह कर सेवा करना चाहते हैं।

मुश्किल है समझ पाना कि कहाँ से जुटा सके गांधी यह विश्वास और यह आशा। हो सकता है कि फिर उनकी आँखों पर पट्टी बंध गयी हो। पर सच यही लगता है कि अनशन के पांच दिनों में लोगों के दिलों में कोई उल्लेखनीय तब्दीली नहीं आयी। न जाने कितने लोगों को तो इस अनशन का किया जाना ही गलत लगा। अनशन शुरु होने के एक दिन बाद ही एक संवाददाता ने गांधी से कुछ सवाल किये जिन में से तीन लोगों की अनख जाहिर कर देते हैं। पहला

सवाल था कि, दिल्ली ही नहीं, पूरे देश में जब 'कुछ झगड़ा हो ही नहीं रहा' तो अनशन किस लिये? लोग वह देख ही नहीं पा रहे थे जो गांधी को विचलित कर रहा था: 'लोग जबरदस्ती मुसलमानों के घरों का कब्जा लेने की बाकायदा कोशिश करें, यह क्या झगड़ा नहीं कहा जाएगा? यह झगड़ा तो यहां तक बढ़ा कि फौज को इच्छा न रहते हुए भी अश्रुगैस इस्तेमाल करनी पड़ी और, भले ही हवा में हो, मगर कुछ गोलियां भी चलानी पड़ीं। तब कहीं लोग हटे। मेरे लिए सरासर बेवकूफी होती कि मैं मुसलमानों का ऐसी टेढ़ी तरह से निकाला जाना आखिर तक देखता रहता। इसे मैं रुला–रुलाकर मारना कहता हूं।'

दूसरा सवाल था कि चूंकि मुसलमान गृहमंत्री पटेल और उनके मंत्रालय से नाराज थे, गांधी के अनशन का 'लोगों के मन पर यह असर होता है कि आप सरदार का हृदय पलटने के लिये उपवास कर रहे हैं। आपका उपवास गृह विभाग की नीति की निन्दा करता है।' तीसरे सवाल में गांधी से कहा गया था कि उनका अनशन उस समय शुरु हो रहा था जब संयुक्त राष्ट्र संघ की सुरक्षा–समिति कश्मीर के मसले पर गौर करने वाली थी, पर उन्होंने यह भी नहीं सोचा कि उनके 'उपवास का यह नतीजा आ सकता है कि संयुक्त राष्ट्र संघ पर हमारे विरूद्ध प्रभाव पड़े।'

गांधी अपनी जान दाँव पर लगा रहे थे। कहीं उम्मीद लिये थे कि इसका तो असर होगा। लोग चेतेंगे।

लोग घबराये ज़रुर। चेते नहीं।

18 जनवरी को टूटा गांधी का अनशन। उस के सिर्फ 53 घंटे बाद उन पर बम फेंका गया। उसके दस दिन बाद हत्या ही हो गयी उनकी। जिन लोगों ने गांधी का अनशन समाप्त कराने के लिये तैयार किये गये वक्तव्य पर दस्तखत किये थे उनमें राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ के प्रतिनिधि हरीश चन्द्र भी थे।

गांधी का एक प्रिय मुहावरा था 'समझदार को इशारा काफी' (ए वर्ड टू द वाइज़)। बहुत कुछ देखा, झेला और किया उन्होंने अपने

अंत के दिनों में। उसकी एक झलक–सिर्फ झलक–है मेरे इस मुख्तसर वक्तव्य में। पर शायद काफी है उस परिप्रेक्ष्य को स्पष्ट करने के लिये जिस में गांधी अपने जिंदगी भर के किए को देखने–आँकने लगे थे। लगता है हम उस परिप्रेक्ष्य के महत्व और उस की सच्चाई को समझ नहीं पाये हैं। जैसे–जैसे समझेंगे वैसे–वैसे गांधी के ऐतिहासिक महत्व को, उनकी प्रासंगिकता को, और उनकी व्यावहारिकता, सफलता और विफलता के रहस्य को बेहतर तरीके से समझ सकेंगे।

एक बुनियादी सवाल हमें हर वक्त जरुर अपने सामने रखना होगा : कब गांधी सफल हुए और कब विफल? बड़े आयाम हैं इस सवाल के और यही सवाल है जो गांधी के त्रासद अंत को मानव स्वभाव से–हमसे–जोड़ देता है।

5 अक्टूबर 1945 से 30 जनवरी 1948 के दरमियान जिन दो साल और चार महीनों का ज़िक्र यहाँ हुआ है उस दौर की गांधी की बेचारगी छिपाये नहीं छिपती। आज़ाद भारत के उनके सालों संजोये सपने को हाथों हाथ ठुकरा देना, देश के विभाजन जैसे अहम प्रस्ताव को मानने से पहले उन से बात तक न करना, साफ–साफ उन से कह देना कि 'वह स्वय अंधेरे में भटक रहे हैं' और उनका अहिंसा का रास्ता अब और अमल में नहीं लाया जा सकता (यह कांग्रेस के सभापति आचार्य कृपालानी ने–बड़े अदब से–गांधी की मौजूदगी में कहा), बार–बार उनके कहे को अव्यावहारिक बता कर न मानना, यह सब गांधी के त्रासद अंत के द्योतक हैं।

पर इसी वक्त ऐसे लाचार गांधी के सामने देश की और उनकी, जो समझ रहे थे कि देश को कैसे चलाना है, लाचारगी भी उजागर होती है। जब सारा प्रशासनिक तंत्र, मय अपनी पुलिस और फौज के, बुरी तरह से अपाहिज हो जाता था तब गांधी के अव्यावहारिक आदर्शवाद और उनकी नैतिक शक्ति याद आने लगती थी। दिल्ली का गांधी का आमरण अनशन जिस समय न सिर्फ गैरजरुरी बल्कि देश और प्रशासन के लिये घातक लग रहा था, उसी समय अकेले गांधी में एक संभावना लग रही थी पंजाब में शांति की।

गांधी वही होते थे, उनकी कथनी–करनी वही होती थी, पर उनको मानने और ठुकराने वाले बदलते रहते थे। क्या निर्धारित करता था इस मानने–ठुकराने को? हमें आज भी गांधी में विनाश की ओर बढ़ रही मानवता के लिये एक मात्र बचाव का रास्ता दिखाई देता है, हम खिंचते हैं उनकी तरफ। वही हम इस अबाध विनाश की हताशा में भी, अव्यावहारिक समझते रहते हैं गांधी को।

इस दुविधा को केन्द्र में रख गांधी के निरंतर पुनर्मूल्यांकन की जैसी ज़रुरत आज है शायद पहले कभी नहीं थी।